

ॐ तत्सत्

श्री परमात्मने नमः

श्री पञ्चदशी

ग्रन्थकार : श्री विद्यारण्य स्वामी

व्याख्याकार : स्वामी शंकरानन्द

प्रस्तावना

मानव मात्र के लिए कल्याणकारी जीवन जीने का विधान वेद मे संग्रहीत है। वेद की ही अन्तिम शिक्षा वेदान्त है। उसे उपनिषद् भी कहते हैं। उसका परम पवित्र ज्ञान मनुष्य को सब कल्मष से मुक्त कर आनन्द, शान्ति और पुर्णता प्रदान कर देता है। प्रबुद्ध लोग प्राचिन काल से ही उसका आदर करते आ रहे हैं। पहले यह ज्ञान भारत में ही केन्द्रित था, किन्तु अब संसार की सभी भाषाओं में यह ज्ञान उपलब्ध है। वैज्ञानिक विकास के साथ आवागमन और सम्पर्क के साधन बढे और उसी के साथ यह ज्ञान भी दुर-दुर फैला। अन्य देशों में इसका आदर होते देखकर हम भारतवासियों ने भी अपने पूर्वजों के द्वारा आर्जित इस सम्पत्ति का मूल्य समझा और इसका अध्ययन कर इसे अपने जीवन में लाने का प्रयास कर रहे हैं।

वेद और उपनिषदों की भाषा तथा उनकी शैली कुछ जटिल है अथवा यह कहें कि आधुनिक भाषाओं का प्रयोग कर रहे मनुष्यों के लिए उनकी भाषा अभ्यास से बाहर होने के कारण कठिन प्रतीत होती है। इस समस्या का निवारण करने का प्रयास पहले भी हुआ है और अब भी हो रहा है। इसी कारण वेदान्त के नये-नये ग्रन्थों की रचना होती रहती है। शंकराचार्य जी ने उपनिषद् आदि आर्ष ग्रन्थों पर भाष्य लिखकर उनका तात्पर्य स्पष्ट किया है और उन्होंने वेदान्त-दर्शन पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं। उनके बाद उनके शिष्यों और अनुयायियों ने भी इस दिशा मे प्रयास जारी रखा। उनकी रचनाओं में श्री विद्यारण्य स्वामी के कई ग्रन्थ बडे महत्वपूर्ण और ख्यातिप्राप्त हैं। वे भगवान् शंकराचार्य द्वारा स्थापित श्रृंगेरिमठ के आचार्य पद पर सन् १३७७ से १३८६ तक आसीन रहे। वे वेद-भाष्य रचयिता श्री सायण के भाई थे और स्वयं भी बडे विद्वान थे। उन्होंने पञ्चदशी, सर्वदर्शन-संग्रह, श्री शंकर दिग्विजय, जीवन-मुक्ति विवेक, अनुभूति प्रकाश, विवरण प्रमेय संग्रह, उपनिषद् दीपिका आदि कई ग्रन्थ लिखे हैं। दृग्दृश्य विवेक पुस्तक के रचयिता भगवान् शंकराचार्य हैं अथवा विद्यारण्य स्वामी, इस विषय मे विवाद है।

श्री विद्यारण्य स्वामी की अन्य सभी रचनाओं की अपेक्षा 'पञ्चदशी' अधिक लोकप्रिय हुई है। इसमे अद्वैत वेदान्त का निरूपण क्रमबद्ध, स्पष्ट और सविस्तार हुआ है। यद्यपि

इसमें विरोधी मतों के खण्डन का प्रयास नहीं किया गया है फिर भी प्रतिपाद्य विषय को स्पष्ट करने के लिए उनमें दोष अवश्य दिखाये गये हैं। ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य वेदान्त में रुचि रखने वाले व्यक्तियों को उसका सुखपूर्वक सम्यक् ज्ञान कराना ही है। लेखक ने इस विषय का प्रमाण उपनिषद् माना है, इसलिए मन्त्रों को उद्धृत करने में कोई संकोच नहीं किया गया है। तर्क उपनिषद् प्रतिपादित सत्य का अनुगामी रहा है। तदनुरूप अनुभव प्राप्त करना उसका अन्तिम प्रमाण है। उसके साथ वेदान्त ज्ञान का फल जुड़ा हुआ है। ब्रह्म और आत्मा के एकत्व ज्ञान के अनुभव में ही कृतकृत्यता, मुक्ति और परमानन्द की उपलब्धि है।

हमारे समस्त दुःखों का अन्तिम कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही हम अपने सत्स्वरूप को भुलकर असत् शरीर आदि को ही अपना रूप मान बैठे हैं। देहात्मबुद्धि के कारण हम विकारी, मरणधर्मा और क्षुद्र बन गये। जगत् के विषयों को सत्य, सुखदायी और मूल्यवान समझ कर उनमें आसक्त हो गये। यह भ्रांति बने रहने तक दुःख से छुटकारा नहीं हो सकता।

वेदान्त-दर्शन भ्रांति और दुःख से मुक्त होने के लिए विचार और विवेक का मार्ग प्रशस्त करता है। विवेक बुद्धि सत्-असत् का विश्लेषण करती है। व्यवहार के छोटे से दायरे में हम सब विवेकवान हैं, किन्तु दुःखोंकि आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए इतना विवेक पर्याप्त नहीं है। घर के भीतर एक बालिका सफाई करते समय इतना विवेक रखती है कि अनुपयोगी कूड़ा क्या है जिसे घर के बाहर फेंक देना चाहिए। उपयोगी वस्तुओं को वह संभाल कर घर में रखती है। किन्तु जब उसकी माँ उसे पड़ोसी के घर खेलने नहीं जाने देती तो उसे यह समझना कठिन हो जाता है कि इसमें माँ का क्या विवेक है। बड़े होने पर वह जान जाती है कि उसका क्या रहस्य था। स्वयं माँ बनने पर वह अपनी पुत्री को उसी प्रकार की शिक्षा देती है। वेदान्त-दर्शन हमें विवेकवान बनने के लिए इसके आगे ले जाता है। वह समस्त विश्व को अपने विचार का विषय बनाकर सत्-असत् का विवेक करने के लिए प्रेरित करता है। यह विवेक का अन्तिम रूप है।

सभी वेदान्त ग्रन्थों में सत् और असत् की परिभाषायें देकर अपने बाहर-भीतर उनकि पहचान करने कि प्रक्रिया बताई गयी है। यहां अपनी सत्ता से स्वतन्त्र रूप में विद्यमान, नित्य और निर्विकार वस्तु को सत् स्वीकार किया जाता है। इन लक्षणों वाली वस्तु एक ही है, उसे आत्मा कहते हैं। वही परमात्मा या ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त जो कुछ नाम-रूपात्मक भासित होता है, वह असत् या मिथ्या है। हमारी समस्या यह है कि हम असत् नामरूपात्मक विकारों को ही सत् समझते हैं और उन्हीं को अपनी सत्ता समझते हैं।

इस असत् के मायाजाल से निकल कर अपने वास्तविक आत्म-स्वरूप को खोजना और पहचानना ही वेदान्त के अनुसार हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है। इसके लिए अनेक उपाय बताये जाते हैं। उनमें से कुछ अवस्थात्रय विवेक, पञ्चकोश विवेक, द्रष्टादृश्य विवेक, महाभूत विवेक आदि हैं। इन उपायों से अपना वह स्वरूप मिल जाता है जिसे जानकर हम अपने को अमर, पूर्ण, अभय और आनन्दमय पाते हैं।

ध्यान देने की बात यह है कि विवेक विचार की यह प्रक्रिया हम स्वतन्त्र रूप से अपना कर कभी सफल नहीं हो सकते। इस मार्ग पर सफलतापूर्वक आगे बड़े लोगों का अनुभव है कि अत्यधिक विलक्षण पुरुष भी अपने आप विचार कर आत्मज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। उन्हें पूर्व सफलता प्राप्त आत्मज्ञानी पुरुषों के मुख से वेदान्त ज्ञान का श्रवण करते हुए उपनिषद् आदि ग्रन्थों का अध्ययन और उनके महावाक्यों के अर्थ का चिन्तन करना चाहिए। श्रवण के द्वारा ज्ञान होता है कि हमारी पूर्व धारणायें मिथ्या थीं। उनका त्याग कर अब नयी धारणायें बनानी चाहिए। यह कार्य करने के लिए मनन करने की प्रक्रिया उपयोगी है। इस प्रकार श्रवण और मनन के अभ्यास से आत्मज्ञान होने पर उसकी निष्ठा बनाये रखने का प्रयास निदिध्यासन है। योग-दर्शन में प्रत्यय एकतानता को ध्यान कहते हैं और वेदान्त में वही निदिध्यासन है।

उत्तम अधिकारियों को श्रवण मात्र से ही आत्मज्ञान हो सकता है किन्तु अन्य साधकों को मनन और निदिध्यासन का अभ्यास करना अपेक्षित होता है। प्रारम्भिक साधक को आत्म-चिन्तन एक कल्पना मात्र प्रतीत होती है, किन्तु उसे शास्त्र सम्मत मान कर निरन्तर करते रहने से वस्तुतः आत्मा कि उपलब्धि होती है। साधना के फलस्वरूप आत्म-साक्षात्कार होना और उसमें तृप्ति का अनुभव केवल कल्पना या मिथ्या धारणा नहीं है। उसका प्रमाण यही है कि किसी अन्य ज्ञान के द्वारा उसका बाध नहीं होता।

आत्मज्ञानी पुरुष ही जीवनमुक्त है। वह शरीर में रहते हुए मुक्ति का आनन्द अनुभव करता है। यद्यपि उसे अपने लिए शरीर की अपेक्षा नहीं रहती, किन्तु वह शरीर की सहायता से अन्य लोगों को अपनी अनुभूतियों के द्वारा मार्ग-दर्शन दे सकता है। इसलिए जीवन्मुक्त पुरुष अपने आप में परब्रह्म परमात्मास्वरूप हैं और समाज के लिए बीच समुद्र में खड़े दीप स्तम्भ के समान उज्वल आदर्श हैं। उन्हीं के द्वारा मानवता का विकास होता है और यह जगत् सर्वसाधारण के लिए रहने योग्य बनता है।

'पञ्चदशी' ग्रन्थ के पन्द्रह अध्यायों में श्री विद्यारण्य स्वामी ने इस वेदान्त विद्या का विस्तृत विवेचन किया है। सभी अध्याय अपने आप में पूर्ण होते हुए भी वे सब मिलकर ग्रन्थ को सब प्रकार से उपयोगी बना देते हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन भाग में विभक्त है। प्रथम पाँच अध्याय 'विवेक' नाम से, दुसरे पाँच अध्याय 'दीप' नाम से और

अन्तिम पाँच अध्याय 'आनन्द' नाम से अभिहित किए गए हैं। इससे ज्ञात होता है कि विवेक नामक अध्यायों में सत् वस्तु की खोज की गयी है, दीप नामक अध्यायों में उस सत् का अनुभव कराया गया है और आनन्द नामक अध्यायों में उस वस्तु के आनन्द का निरूपण है। हम यह भी कह सकते हैं कि समस्त ग्रन्थ में परमात्मा का ही प्रतिपादन किया गया है। विवेक नामक प्रथम पंचक में उसके सत् स्वरूप का, दीप नामक दूसरे पंचक में उसके चित् स्वरूप का और अन्तिम आनन्द नामक पंचक में उसके आनन्द स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इसी क्रम से हम विवेक द्वारा असत् वस्तु का त्याग कर सत् स्वरूप आत्मा को पहचानने का प्रयास करते हैं, फिर उसके चित् स्वरूप का अनुभव कर उसके आनन्दस्वरूप तक पहुँच जाते हैं। अपने आत्मा में ही परमानन्द का अनुभव कर पूर्णता प्राप्त हो जाती है।

प्रत्यक्-तत्त्व-विवेक नामक पहले अध्याय में सम्पूर्ण ग्रन्थ का सार प्रस्तुत कर दिया गया है। उसी का विस्तार शेष समस्त अध्यायों में हुआ है। दूसरा अध्याय पंचमहाभूत-विवेक है। इसमें परमात्मा की शक्ति माया से समस्त पांचभौतिक सृष्टि की उत्पत्ति दिखा कर सत्स्वरूप परमात्मा और असत् या मिथ्यारूप सृष्टि के बीच विवेक किया गया है। इस विवेक से उत्पन्न ज्ञान-दृष्टि में एक सत्स्वरूप परमात्मा ही सर्वत्र दिखाई देने लगता है। मायामय जगत् तिरोहित हो जाता है। इसी के साथ समस्त भौतिक क्लेश भी समाप्त हो जाते हैं और जीवभाव का भी अन्त हो जाता है (२.१०४)।

पंचकोश-विवेक के द्वारा भी हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं। उसका विस्तृत वर्णन तीसरे अध्याय में है। अन्नमय आदि पाँच कोश हमारे सत्स्वरूप आत्मा पर एक प्रकार के आवरण हैं। मुँज की घास से उसकी पत्तियाँ हटाकर जैसे अन्दर की सींक निकाल ली जाती है अथवा सर्दियों में पहने हुए अनेक वस्त्रों को एक-एक कर उतार देते हैं और अपने शरीर तक पहुँच जाते हैं, उसी प्रकार अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय कोशों को अनात्मा समझ कर जब हम अपनी दृष्टि अपने नित्य अस्तित्व की ओर फेरते हैं तो हमें अपने आत्मा का अनुभव होता है।

चौथे अध्याय में ईश्वरकृत और जीवकृत दो प्रकार की सृष्टियों का वर्णन किया गया है। पहली सृष्टि 'जगत्' और दूसरी सृष्टि 'संसार'। जीव ने स्वयं संसार की रचना कर अपने लिये समस्या उत्पन्न की है। यदि शास्त्र ज्ञान से वह अपना संसार निरस्त कर दे तो उसे मुक्त होने में देर नहीं। यहां संसार का वर्णन बड़े स्पष्ट रूप में हुआ है।

पाँचवा अध्याय चार महावाक्यों का विवेचन कर आत्मा और परमात्मा की एकता का निरूपण करता है।

छठा अध्याय 'चित्रदीप' है। उसमें वस्त्र पर बने चित्र का दृष्टान्त देकर कुटस्थ पर नाम-रूपात्मक जगत् की रचना बताई गयी है। वस्त्र पर रंगों के द्वारा जड़ भूमि, जल, पर्वत की रचना और पशु, पक्षी, मनुष्य आदि चेतन प्रणियों की रचना दिखाई जाती हैं। इसी प्रकार कूटस्थ परमात्मा पर आश्रित होकर समस्त जगत् का विस्तार हुआ है। जगत् तो कभी है कभी नहीं भी है किन्तु कुटस्थ सदा विद्यमान है। उसका निषेध नहीं हो सकता। यह कूटस्थ ही सबका आत्मा है। इस सत्स्वरूप आत्माका ज्ञान ही पुर्णता है। 'तृप्तिदीप' नामक सातवें अध्याय में इसी पुर्णता का वर्णन है। इसी में परम तृप्ति है। बृहदारण्यक उपनिषद् का एक श्लोक "आत्मानं चेद्विजानीयात्....." (४.४.१२) ज्ञानी की इस स्थिति का वर्णन करता है और यह २९८ श्लोकों का अध्याय उसी एक श्लोक की व्याख्या करता है।

'कूटस्थदीप' नामक आठवें अध्याय में कूटस्थ आत्मा का पुनः निरूपण किया है और उसके सर्वाधिष्ठान, निर्विकार, निर्लेप और अविनाशी लक्षणों की तर्क के द्वारा स्थापना की है। उत्तम अधिकारी पुरुष विचार द्वारा ही उसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं किन्तु मध्यम अधिकारी चिन्तन द्वारा अपना चित्त उसमें स्थापित करते हैं। इस चिन्तन प्रकृया का वर्णन 'ध्यानदीप' नामक नवें अध्याय में किया गया है। उसमें सम्वादी और विसम्वादी भ्रम का अन्तर बता कर यह दिखाया गया है की ध्यान-साधना सम्वादी भ्रम का एक प्रकार है और उससे सत् की प्राप्ति होना सहज स्वाभाविक है। निर्गुण ब्रह्म का चिन्तन करने पर चिन्तनीय वस्तु यद्यपि मन की कल्पना है, किन्तु उसके फलस्वरूप सत्स्वरूप ब्रह्म की उपलब्धि होती है।

दसवें अध्याय में नित्यानित्य और द्रष्टा-दृश्य का विवेक करने में दीप के प्रकाश में हो रहे नाटक का उदाहरण दिया गया है। राज-सभा में दीपक जल रहा है। राजा तथा अन्य सभासद आकर अपने आसनों पर बैठते हैं। नृत्य करने वाला समाज और वादक आकर अपना नाटक प्रारम्भ करते हैं। राजसभा में उपस्थित ये सभी लोग दीपक के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। सभा समाप्त होती है और सब लोग चले जाते हैं। कक्ष खाली हो जाता है। उसे भी दीपक प्रकाशित करता है। इसी प्रकार साक्षी चैतन्य अन्तःकरण की सभी वृत्तियों को प्रकाशित करता है और सुषुप्तावस्था या तुरीयावस्था में उनके न होने को भी प्रकाशित करता है। वह साक्षी चैतन्य वृत्तियों के होने या न होने से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता। वह सदा निर्लेप ही रहता है।

आत्मा आनन्दस्वरूप भी है। इसके आनन्द का अनुभव करना ही आत्मज्ञान है। तर्क द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है की आत्मा परम प्रेमस्वरूप होने के कारण आनन्दस्वरूप है। इस विषय का विवेचन अन्तिम पाँच अध्यायों में किया गया है। इस

प्रकार समस्त ग्रन्थ वेदान्त के सभी पक्षों का गहराई से विस्तृत विवेचन करता है। इससे साधकों को विचार और चिन्तन कर अपने लक्ष्य तक पहुंचने में बड़ी सुविधा होती है। इसलिए वेदान्त-साधकों के बीच यह ग्रन्थ बहुत प्रचलित, उपयोगी और प्रसिद्ध हुआ है।

-स्वामी शंकरानन्द

मंथना,

कानपुर २०९२१७

१० सितम्बर - १९९४

ॐ तत्सत।

श्री परमात्मने नमः।

अध्याय १

प्रत्यक्-तत्त्व-विवेक

मंगलाचरण

ग्रन्थकार श्री विद्यारण्य स्वामी ने ग्रन्थ की रचना प्रारम्भ करने के पूर्व दो श्लोकों में परमात्मस्वरूप गुरु की वन्दना की है। इसे मंगलाचरण कहते हैं। इसका उद्देश्य ग्रन्थ का निर्विघ्न समाप्त होना और अध्ययन करने वालों के लिए कल्याणकारी होना है। यह शिष्टजन परम्परा भी है।

नमः श्रीशंकरानन्द गुरुपादाम्बुजन्मने।

सविलास महामोह ग्राहग्रासैक कर्मणे॥

विलास सहित महामोह रूपी ग्राह का ग्रास कर जाना ही जिसका मुख्य काम है ऐसे शंकरानन्द गुरु पादाम्बुजों को मैं नमस्कार करता हूँ।

व्याख्या - श्री विद्यारण्य स्वामी के गुरु हैं श्री शंकरानन्द महाराज। उनका स्मरण कर और उनके चरण कमलों की वन्दना कर ग्रन्थ प्रारम्भ किया जाता है। गुरु-वन्दना में उनकी महिमा भी गाई गयी है। साथ ही उनके प्रति अपनी भक्ति भी प्रकट की गयी

है। इससे यह सूचित होता है कि गुरु का मुख्य कार्य शिष्य के मोह का नाश करना है और शिष्य को इसका अधिकारी बनने के लिए गुरु-चरणों में दृढ भक्ति रखनी चाहिए।

कोई भी विद्या गुरु-कृपा से ही प्राप्त होती है। वेदान्त ज्ञान तो गुरु से ही प्राप्त होता है। गुरु की कृपा से ही अज्ञान नष्ट होकर हृदय में शुद्ध ज्ञान और आनन्द का प्रकाश होता है इसलिए अध्यात्म विद्या के जिज्ञासु शिष्य को अपने गुरु में ईश्वर भाव रखकर भक्ति करनी चाहिए।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

'जिस महात्मा के हृदय में परमात्मा के प्रति परम भक्ति हो और वैसी ही भक्ति गुरु में भी हो उसे शास्त्र में कहे गये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप अर्थ अथवा श्रुति में कथित वचनों का अर्थ प्रकाशित होता है।'

श्रुतियाँ आत्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान कराती हैं। गुरु-कृपा से वह ज्ञान हृदय में प्रकट होता है। श्रुतियों ने स्वयं इस बात पर बल दिया है। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार 'आचार्यवान् पुरुषो वेद'-अर्थात् आचार्य (गुरु) की सेवा करने वाले को ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है कि तत्त्व ज्ञान की जिज्ञासा होने पर गुरु के पास जाना चाहिए। 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्'-अर्थात् जिज्ञासु को हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण में जाना चाहिए। इस श्रुति-वचन में सद्गुरु के लक्षण भी बता दिये गये हैं।

जो वस्तु जिसके पास होती है उसी से मिल सकती है। दरिद्री मनुष्य धनवान से ही धन प्राप्त कर सकता है। बंधे हुये मनुष्य को वही छुड़ा सकता है जो स्वयं छूटा हो। यदि दो व्यक्ति दो खम्भों में रस्सी से बंधे हों तो वे मुक्त होने में एक दूसरे की सहायता नहीं कर सकते। उनके अतिरिक्त जब कोई तीसरा मुक्त मनुष्य उनके पास आये और उन पर कृपा करे तभी वे मुक्त हो सकते हैं। इसी प्रकार गुरु होने का वही अधिकारी है जो स्वयं मोहमुक्त है। जिसने शास्त्र का अध्ययन किया है, वही दूसरे को उसका अध्ययन करने में सहायता कर सकता है। मुण्डक और कठोपनिषद् में बंधे हुये मनुष्य का दृष्टान्त देकर यह श्लोक कहा गया है-

अविद्यायमन्तरे वर्तमानाः

स्वयं धीराः पण्डितमन्यमानाः।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥

'अविद्या के भीतर रहते हुये भी अपने आपको बुद्धिमान और विद्वान् मानने वाले वे मूर्ख लोग नाना योनियों में चारों ओर भटकते हुए ठीक उसी प्रकार ठोकरें खाते हैं, जैसे अन्धे मनुष्य के द्वारा चलाये जाने वाले अन्धे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँचते।'

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को ऐसे गुरु के पास जाना चाहिए जिसके ज्ञान के नेत्र खुले हों और स्वयं मोहमुक्त होकर आत्मानन्द में रमण कर रहा हो। श्री शंकरानन्द महाराज ऐसे ही गुरु हैं। उनके चरण कमलों की कृपा से मोह और उसके परिणामस्वरूप होने वाले दुःख आदि सब मिट जाते हैं। विद्यारण्य स्वामी को इसका व्यक्तिगत अनुभव है।

संसार-सागर के जल में कमल भी उत्पन्न होते हैं और मगर भी। मगर सभी जल-जन्तुओं को खा जाता है, किन्तु कमल को नहीं खाता। कमल जल में रहते हुए भी उससे असंग रहता है। इसी प्रकार गुरु और शिष्य दोनों संसार में पड़े प्रतीत होते हैं। किन्तु शिष्य तो मछली बन कर मोहरूपी मगर के मुख में दब जाता है, किन्तु गुरु कमल बन कर जल के ऊपर खिला प्रसन्न रहता है। वह अपनी सुगन्ध और शोभा सब और विकीर्ण करता है। वह अपना आदर्श प्रस्तुत कर शिष्य को असंग और ज्ञानवान बनने की प्रेरणा देता है। आश्चर्य की बात यह है कि ग्राह जैसे भयंकर मोह को अति कोमल चरण-कमल भी ग्रस जाने में समर्थ हैं। तात्पर्य यह है कि इस भयंकर, क्रूर संसार पर विजय पाने के लिए उससे भी अधिक दुर्धर्ष बनने की न आवश्यकता है, और उचित ही है। कोमल सत्त्विक भाव आर्जित कर दया, क्षमा और भक्ति द्वारा ही उस पर विजय पायी जा सकती है। एक छोटे अज्ञान को नष्ट करने के लिए एक बड़ा अज्ञान समर्थ नहीं होता। अज्ञान को ज्ञान ही नष्ट कर सकता है।

कमल और ग्राह के रूपक गुरु-कृपा की महिमा भी सूचित करते हैं। ऐसा प्रसिद्ध है कि भगवान् शंकराचार्य ने अपने मंदमति शिष्य तोटक को अपनी कृपा से ज्ञानवान बना दिया। अन्य शिष्य जिसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, वह तोटक छन्द का रचयिता बन गया। उसके मुख से सहसा श्लोकों का शुद्ध उच्चारण सुनकर सभी लोग आश्चर्य में रह गये। अतः गुरु-कृपा से असंभव भी संभव बन जाता है।

इस श्लोक की रचना इतनी कुशलता से हुई है कि इसके द्वारा ग्रन्थ का अनुबंध चतुष्टय भी सूचित हो जाता है। ग्रन्थ की रचना के प्रारम्भ में ग्रन्थकार अपनी कृति के विषय में चार सूचनायें देता है, उन्हें अनुबंध चतुष्टय कहते हैं। विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन और अधिकारी-इन चारों का सम्बन्ध ही अनुबंध है। वेदान्त ग्रन्थों का प्रतिपाद्य 'विषय' आत्मा और ब्रह्म की एकता होती है। इस श्लोक में 'शंकर' ब्रह्म है और 'आनन्द' आत्मा है। दोनों की एकता शंकरानन्द है। विषय और ग्रन्थ का सम्बन्ध प्रतिपाद्य-प्रतिपादक

'संबन्ध' है। ग्रन्थ का 'प्रयोजन' उसकी रचना का उद्देश्य होता है। महामोह का नाश और आत्मज्ञान के द्वारा परमानन्द की प्राप्ति कराना ही इसका प्रयोजन सूचित होता है। यदि कहो कि इस प्रयोजन से तो पहले ही अनेक ग्रन्थों की रचना हो चुकी है, तो अगले श्लोक में कहेंगे 'सुखबोधाय' अर्थात् सरलता से आत्मज्ञान होना ही इसका विशेष प्रयोजन है। 'अधिकारी' वही है जिसका हृदय में गुरु-चरणों की भक्ति है। अन्तिम दो प्रयोजनों का विस्तृत उल्लेख अगले श्लोक में किया गया है।

तत्पादाम्बुरुह द्वन्द्व सेवानिर्मल चेतसाम्।

सुखबोधाय तत्त्वस्य विवेकोऽयं विधीयते॥२॥

'उन दोनों पाद-पद्मों की सेवा से जिनका चित्त निर्मल हो गया है उन्हें सुखपूर्वक तत्त्व का ज्ञान कराने के लिए इस विवेक की रचना की जा रही है।'

व्याख्या-'तत्पाद'-उन श्री शंकरानन्द महाराज के चरण जिनका उल्लेख पिछले श्लोक में हो चुका है। वहां 'गुरु-पादाम्बुजन्मने' पद एक वचन में रखा गया था। व्याकरण के 'जातित्वादेकवचनम्' नियम से एक जाति की अनेक वस्तुओं के लिए एक वचन का प्रयोग हो सकता है। यहां 'द्वन्द्व' कहकर गुरु के दोनों पदों की ओर ध्यान दिलाया गया है। वे दोनों चरण ज्ञान और वैराग्य हैं। उनकी सेवा करने से चित्त निर्मल होता है और आत्म-सुख का अनुभव होता है। चित्त विषयों के मल से मलीन होता है। उसे साफ किये बिना उस पर आत्म-ज्ञान का रंग नहीं चढ़ता। विषयों में राग न रहने से चित्त निर्मल हो जाता है, और उसमें परमात्मा का प्रकाश प्रकट हो जाने से आनन्द छा जात है।

विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व साधन चतुष्टय कहलाते हैं। इन गुणों से सम्पन्न पुरुष तत्त्वज्ञान का अधिकारी होता है। अतः इन्हीं गुणों को अधिकारी पुरुष का लक्षण भी मानते हैं। नित्य और अनित्य वस्तु की पहचान करने वाली बुद्धि का नाम है विवेक। विषय सुख की अनित्यता समझ कर उनका राग त्याग देना वैराग्य है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान ये षट्सम्पत्तियां हैं। अध्यात्म पथ पर इन्हीं के बल पर प्रगति होती है। इसलिए इन्हें आध्यात्मिक सम्पत्ति कहते हैं। कर्म-बंधन और उससे प्राप्त होने वाले जन्म-मृत्यु के दुःखों को हेय समझकर उनसे छुटकारा पाने की प्रबल इच्छा का नाम मुमुक्षा है।

ऐसे चित्त-शुद्ध अधिकारी को तत्त्वबोध कराने के लिए ग्रन्थकार 'प्रत्यक्-तत्त्व-विवेक' नामक इस प्रकरण की रचना करते हैं। उपाधि रहित निर्मल शुद्ध वस्तु को तत्त्व

कहते हैं। यहां तत्त्व का तात्पर्य सच्चिदानन्द घन परब्रह्म है। वही अपना सत्स्वरूप है। शरीर आदि उपाधियों से पृथक् कर उसका अनुभव प्राप्त करना तत्त्व-विवेक है।

आत्म चेतना की नित्यता

जीव का शुद्ध स्वरूप आत्मा है। सत्, चित्, और आनन्द उसके लक्षण हैं। युक्ति और अनुभव के द्वारा इनका बोध कराने के लिए पहले आत्मा की सत्यता सिद्ध करते हैं। इस परकृत्या से ज्ञात से अज्ञात की ओर जाते हैं।

शब्दस्पर्शादयो वेद्या वैचित्र्याज्जागरे पृथक्।

ततो विभक्तास्तत्संविदैकरूप्यान्न भिद्यते॥३॥

'स्पष्ट व्यवहार वाली जाग्रत अवस्था में ज्ञान के विषयभूत शब्द, स्पर्श आदि विषय अलग-अलग धर्म वाले होने से वे एक दूसरे से अलग-अलग हैं किन्तु उनसे पृथक् रहने वाला उनका संवित् एकरूप होने के कारण भेद वाला नहीं होता है।'

व्याख्या--जीव की तीन अवस्थायें हैं-जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। जब शरीर में स्थित होकर इंद्रियों से बाह्य जगत् का ज्ञान हो तो वह जाग्रदावस्था है। जब इंद्रियां मन में लय हो जाती हैं और मन से विषयों का ज्ञान होता है तो उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। मन के भी लीन होने पर जब विषयों का ज्ञान नहीं होता तो वह सुषुप्ति अवस्था है।

पहले जाग्रत् अवस्था में हो रहे ज्ञान का विचार करें। इस समय श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा और नासिका से क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध पाँच विषयों का ज्ञान होता है। जगत् की सभी वस्तुओं का ज्ञान इन्हीं पाँच रूपों में होता है। विषयों के पाँच रूप होने के कारण ज्ञान भी पाँच प्रकार का होता है, जैसे शब्दज्ञान, स्पर्श ज्ञान आदि। किन्तु शुद्ध ज्ञान एक ही है। वही एक ज्ञान शब्द ग्रहण करने पर शब्दज्ञान है और स्पर्श ग्रहण करने पर स्पर्शज्ञान है। हम अपने अनुभव से जानते हैं कि हमारे एक ज्ञान में ही शब्द आदि विषय एक के बाद एक आते हैं। विषय बदलते रहते हैं, किन्तु उनको ग्रहण करने वाला एक ही रहता है। विषय के बदलने के साथ ज्ञान नहीं बदलता। जैसे एक किलो बाँट से एक किलो गेहूँ तौलने के बाद, एक किलो चीनी और फिर एक किलो दाल तौलते हैं, तो तौली हुई वस्तु बदलती जाती है किन्तु एक किलो का बाँट वही रहता है, वैसे ही एक ही ज्ञान से सब विषय जाने जाते हैं। विषयों के बदलने पर ज्ञान नहीं बदलता।

इस प्रकार विषयों की अनेकता देखकर हम कह सकते हैं कि विषय विभक्त हैं, उनमें भेद है, किन्तु ज्ञान अविभक्त है उसमें भेद नहीं है। नाना रूप विषय, ज्ञान की उपाधि

हैं, जैसे घट, मठ आदि आकाश की उपाधियाँ हैं। एक अविभक्त आकाश घट की उपाधि से घटाकाश और मठ की उपाधि से मठाकाश कहलाता है। इसी प्रकार एक ही अविभक्त ज्ञान शब्द की उपाधि से शब्दज्ञान और रूप की उपाधि से रूपज्ञान समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि जाग्रत् अवस्था में विषयों का अनुभव करते समय विषयों की अनेकता, परिवर्तनशीलता और उनके गतागत स्वभाव को पहचान कर ज्ञान की एकता, अपरिवर्तनशीलता और नित्यता को समझने का प्रयास करना चाहिये। इसी ज्ञान की डोर को पकड़कर हम आगे आत्मज्ञान की ओर बढ़ेंगे। इस ज्ञान के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान ही आत्मज्ञान है।

जाग्रत् अवस्था में ज्ञान के एकत्व को पहचान कर स्वप्नावस्था में भी उसी ज्ञान की एकता देखनी चाहिए-

तथा स्वप्नेऽत्र वेद्यं तु न स्थिरं जागरे स्थिरम् ।
तद् भेदोऽतस्तयोः संवित् एकरूपा न भिद्यते॥४॥

'स्वप्न में भी तद्वत् है। यहाँ वेद्य विषय स्थिर नहीं होते किन्तु जाग्रत् अवस्था में स्थिर होते हैं। इसलिये दोनों अवस्थाओं में भेद है। किन्तु दोनों अवस्थाओं का संवित् (ज्ञान) एक रूप है। उसमें भेद नहीं है।'

व्याख्या-स्वप्नावस्था में भी विषयों की अनेकता और ज्ञान की एकता उसी प्रकार है जैसे जाग्रत् अवस्था में-'तथा स्वप्ने'। स्वप्न में जाग्रत् के समान शब्द, स्पर्श आदि विषयों का ज्ञान होता है। विषयों की उपाधि से वह नाना प्रकार का भासित होने पर भी ज्ञान तत्त्वतः एक ही है। प्रत्येक विषय के साथ ज्ञान परिवर्तित या विकृत नहीं होता।

यदि दोनों अवस्थाओं में विषयों की भिन्नता और ज्ञान की एकता है तो उन अवस्थाओं में अन्तर क्या है? अन्तर यही है कि जाग्रत् अवस्था के विषय स्थिर हैं। सोकर उठने पर हम नित्य अपना वही कमरा, वही मेज, वही कुर्सी पाते हैं जो हमने सोने के पहले छोड़ी थी। इनमें स्थिरता दिखाई देती है, ऐसी स्थिरता स्वप्न की वस्तुओं में नहीं है। हर बार स्वप्न में वे वस्तुयें बदली हुई दिखाई देती हैं। हम वहाँ यह अनुभव नहीं करते कि हमने जो वस्तु कल यहां स्वप्न में देखी थी वही आज फिर देख रहे हैं। यद्यपि हम कभी-कभी एक ही समान दो बार स्वप्न देख सकते हैं, फिर भी उससे स्वप्न की वस्तुओं की स्थिरता सिद्ध नहीं हो जाती। इसके अतिरिक्त स्वप्न की वस्तुयें देखते-देखते गायब हो जाती हैं और नई-नई प्रकट भी होती रहती हैं। यदि कहीं पडा हुआ एक रुपया दिखाई देता है तो हम सोचते हैं कि शायद आस-पास और भी रुपये पड़े हों। इतना सोचते ही अन्य अनेक रुपये दिखाई देने लगते हैं।

यद्यपि वहां नहीं थे तो भी प्रकट हो जाते हैं। यदी शंका होती है कि हमारी जेब से ये रुपये गिर न जायें तो सचमुच हमें अपनी जेब खाली मिलती है। तात्पर्य यह है कि स्वप्नावस्था के विषय जाग्रत् की अपेक्षा अस्थिर और क्षणिक होते हैं। यही दोनों अवस्थाओं के अनुभव का अन्तर है।

स्वप्न की वस्तुओं का अस्थिर स्वभाव देखकर ही हम स्वप्न को मिथ्या कहते हैं। जाग्रत् की वस्तुयें उसकी अपेक्षा अधिक स्थिर हैं इसलिये हम इसे सत्य समझते हैं। क्या इन दोनों अवस्थाओं का ज्ञान एक दूसरे से भिन्न है? क्या स्वप्न का ज्ञान दूसरा है और जाग्रत् का ज्ञान दूसरा है? क्या स्वप्न का ज्ञान भी स्वप्न की वस्तुओं के समान अस्थिर और नश्वर है? यद्यपि स्वप्न के विषय भिन्न-भिन्न प्रकार के और अस्थिर हैं, तो भी उनका ज्ञान एकरूप और स्थिर है। इसलिए यद्यपि स्वप्न मिथ्या समझा जाता है किन्तु स्वप्न का ज्ञान मिथ्या नहीं होता। स्वप्न का ज्ञान भी वही है जो जाग्रत् में हम विषय से पृथक् कर शुद्ध रूप में अनुभव करते हैं। एक ही ज्ञान से हम स्वप्न और जाग्रत् की पृथक् अवस्थाओं का अनुभव करते हैं। जो जाग्रत् का द्रष्टा है वही स्वप्न का द्रष्टा है। अपने एक ही ज्ञान में हम दोनों अवस्थाओं को आते-जाते देखते हैं। इसलिए ज्ञान की एकता जाग्रत् से स्वप्न तक एक समान है।

यही ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में भी व्याप्त है, यह दिखाने के लिए पहले सुषुप्ति अवस्था के विषय में बताते हैं-

सुप्तोत्थितस्य सौषुप्त तमबोधो भवेत्स्मृतिः ।
सा चावबुद्ध विषयाऽव बुद्धं तत्तदा तमः ॥५॥

'सोकर उठे पुरुष को सुषुप्ति अवस्था के अज्ञान का बोध होता है, उसे स्मृति कहते हैं। वह स्मृति अनुभव किये गये विषय की है, क्योंकि वह अज्ञान उस अवस्था में अनुभव हुआ था।'

व्याख्या--भारतीय दार्शनिकों ने प्रत्यक्ष आदि ज्ञान के छः साधन माने हैं। वे छः प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि हैं। स्मृति ज्ञान का साक्षात् साधन नहीं है। वह किसी प्रमाण से प्राप्त पूर्व ज्ञान की पुनरावृत्ति है। पहले कभी देखी हुई वस्तु यदि कालान्तर में पुनः बुद्धि में आती है तो उसे 'स्मृति' कहते हैं। स्मृति ज्ञान यह सिद्ध करता है की हमने वह ज्ञान पहले कभी प्रमाण से प्राप्त किया था।

सोकर जागने पर हमें स्मृति होती है कि अभी कुछ देर पहले इतनी नींद में सोते रहे कि कुछ भी पता न चला। कोई स्वप्न भी नहीं दिखाई दिया। सोते समय कुछ भी न

ज्ञान पाने की स्मृति यह सिद्ध करती है कि कुछ काल पहले यही हमारा अनुभवजन्य ज्ञान था। इससे सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में कुछ न ज्ञात होने का ज्ञान रहता है। वहां ज्ञान का अभाव नहीं है। केवल ज्ञान के विषय का अभाव है। विषय का अभाव तम रूप में भासित होता है।

सुषुप्ति अवस्था में रहने वाला शुद्ध ज्ञान वही है जो जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं में था-

स बोधो विषयाद् भिन्नो न बोधात्स्वप्नबोधवत्।

एवं स्थानत्रयस्यैका संवित्तद्विदिनांतरे ॥६॥

'वह बोध विषय से भिन्न है, किन्तु जैसे स्वप्न का बोध भिन्न नहीं है वैसे ही जाग्रत् के ज्ञान से यह भिन्न नहीं है। इन तीनों अवस्थाओं में ज्ञान एक ही है। उसी प्रकार दूसरे दिन भी वही एक ज्ञान रहता है।'

व्याख्या--सुषुप्ति अवस्था का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि वह बोध विषय से भिन्न है। वहाँ विषय 'कुछ भी भासित न होना' अर्थात् विषय का अभाव है। वह भी ज्ञान से जान जाता है। ज्ञान और विषय का अभाव दोनों पृथक् हैं, जैसे शब्द और उसका ज्ञान पृथक् है। अतः ज्ञान सुषुप्ति में भी है किन्तु वह विषय के अभाव मात्र को प्रकाशित करता है। यह ज्ञान जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं के ज्ञान से पृथक् नहीं है। ज्ञान तीनों अवस्थाओं में एक ही है।

विषय भेद से हमारी तीन अवस्थायें हैं। जब हमें स्थिर विषयों का ज्ञान होता है तो वह जाग्रत् अवस्था है, जब अस्थिर विषयों का ज्ञान होता है तो वह स्वप्न अवस्था है। जब स्थिर-अस्थिर किसी विषय का बोध नहीं होता तो वह सुषुप्ति अवस्था है। इन तीनों की जानकारी ज्ञान में ही होती है। इससे सिद्ध होता है कि एक ही ज्ञान तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। उसमें भेद और पृथकता कभी नहीं होती। वह निरन्तर, शास्वत और नित्य है।

चौबिस घण्टे अर्थात् एक दिन-रात में तीन ही अवस्थायें होती हैं। उन तीनों अवस्थाओं में ज्ञान सतत् बना रहता है। इस शुद्ध ज्ञान की निरन्तरता पहचाननी चाहिए। जैसे यह एक दिन-रात में अखण्ड और सतत् बना रहता है वैसे ही वह दूसरे दिन-रात भी बना रहता है। उसका न अभाव होता है और न वह बदलता ही है।

आत्मा की स्वयंप्रकाशरूपता

मासाब्दयुगकल्पेषु गतागम्येष्वनेकधा।

नोदेति नास्तमेत्येका संविदेषा स्वयंप्रभा॥७॥

'अनेक बार आने-जाने वाले मास, वर्ष, युग और कल्प तक बिना उदित और अस्त हुए यह ज्ञान एक ही रहता है और वह स्वयं प्रकाश स्वरूप है।'

व्याख्या--पिछले श्लोकों में यह दिखाया गया है कि एक दिन की जाग्रत् आदि तीन अवस्थाओं में ज्ञान एक ही है। वह दूसरे दिन भी उसी प्रकार एक है। इसी क्रम से यह समझा जा सकता है कि ज्ञान मास पर्यन्त एक ही रहता है। ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई देता जिससे एक या दो मास बाद ज्ञान की निरन्तरता नष्ट हो जाय। इसलिए यही समझना चाहिये कि एक के बाद एक आने वाले चैत्र, वैशाख आदि मासों में प्रभव, विभाव आदि चौसठ संवत्सरों में, सतयुग आदि चारों युगों में तथा ब्राह्म, वाराह आदि कल्पों में ज्ञान एक ही बना रहता है। वह न कभी उत्पन्न होता दिखाई देता है और न कभी लय होता हुआ। इसलिए ज्ञान नित्य है। ज्ञान का यह लक्षण स्वयं ज्ञान से ही जाना जाता है, क्योंकि ज्ञान स्वयं प्रकाश स्वरूप है।

यदि कहो कि शब्द ज्ञान के बाद स्पर्श या रूप का ज्ञान होता है अर्थात् एक ज्ञान नष्ट होकर दूसरा ज्ञान उत्पन्न होता है तो ऐसा कहना उचित नहीं है। हम पहले ही देख चुके हैं कि विषय (शब्द आदि) आते जाते हैं, उनका उदय-अस्त होता है किन्तु ज्ञान एक ही रहता है। वह बार-बार नष्ट होकर उदित नहीं होता।

यदि ज्ञान को उदित और नष्ट होने वाला मानो तो यह बताना होगा कि उसके उदय-अस्त का ज्ञाता कौन है? यदि कहो कि ज्ञान ही ज्ञान के उदय-अस्त का ज्ञाता है तो यह मानना उचित नहीं है। ज्ञान का उदय होने से पूर्व और उसके नष्ट होने के बाद उसका जानने वाला उससे पृथक् होना चाहिये तभी वह ज्ञान सम्भव होगा। इस समस्या से बचने के लिए यदि कहो कि एक ज्ञान के उदय-अस्त का जानने वाला दूसरा ज्ञान हो सकता है, तो यह भी उचित विचार नहीं है। हम देखते हैं कि ज्ञान और उसके द्वारा प्रकाशित होने वाले विषय तो पृथक् हैं, किन्तु ज्ञान में न भेद है और न उसकी दो पृथक् सत्तायें हैं। यह अनुभव से सिद्ध ही है, तर्क से भी सिद्ध हो सकता है। यदि ज्ञान का ज्ञाता दूसरा ज्ञान मानें तो उसका ज्ञाता भी उससे पृथक् अन्य ज्ञान मानना आवश्यक हो जायेगा। इस क्रम का कहीं अन्त न होगा और अनावस्था नामक दोष उपस्थित होगा। इसलिये ज्ञान को एक ही मानना तर्कसंगत है।

ज्ञान के एक होने और उसके अपरिवर्तनीय होने का बोध उसी ज्ञान से होता है। ज्ञान एक प्रकार का दिव्य प्रकाश है। जैसे सूर्य का प्रकाश स्वयं अपने को प्रकाशित करता है, उसे प्रकाशित करने के लिए दीपक आदि किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही ज्ञान स्वतः अपने को प्रकाशित करता है, उसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इसलिए ज्ञान को स्वयं प्रकाशस्वरूप समझना चाहिए।

आत्मा की परमानन्दता

इयमात्मा परानंदः परप्रेमास्पदं यतः।

मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते॥४॥

'यह ज्ञान आत्मा है। परमप्रेमास्पद होने के कारण यह परमानन्द स्वरूप है। ऐसा कभी न हो कि मैं न रहूँ, मैं सदा रहूँ इस प्रकार आत्मा में प्रेम दिखाई देता है।'

व्याख्या--वह ज्ञान जिसमें विविध विषयों और तीनों अवस्थाओं का बोध होता है, नित्य और स्वयं प्रकाश है। हम उसे अपने आप से अपृथक् अनुभव करते हैं, इसलिये यह आत्मा है। यदि मैं अपने को ज्ञान से पृथक् मानूँ तो मुझे स्वीकार करना पड़ेगा कि मैं या तो जड़ हूँ या फिर उस ज्ञान से पृथक् दूसरा कोई ज्ञान हूँ। अपने को जड़ मानकर मैं किसी ज्ञान को अपना ज्ञान स्वीकर नहीं कर सकता। ज्ञान से पृथक् अपने को जड़ मानना भी 'वदतो व्याघात' दोष है। यह कहना उसी प्रकार है जैसे मैं कहूँ कि मेरे मुँह में जिह्वा नहीं है। इसीलिये मैं अपने को ज्ञान से पृथक् मान ही नहीं सकता। यदि मैं कहूँ कि मैं विषयों को ग्रहण करने वाले ज्ञान से पृथक् कोई दूसरा ज्ञान हूँ तो यह मानना पड़ेगा कि इन दोनों ज्ञानों में विभाजक रेखा क्या है? यह हम देख चुके हैं कि ज्ञान का लक्षण अविभक्त रहना है, जो यत्किंचित् विभाजन प्रतीत होते हैं वे ज्ञेय की उपाधि के कारण भासित होते हैं, ज्ञान स्वतः अविभाज्य है। इसलिए यही मानना उचित है कि ज्ञान मुझसे अभिन्न है और स्वयं प्रकाशित होने के कारण ज्ञान से ही ज्ञान का अनुभव हो रहा है। एक शब्द में कह सकते हैं कि ज्ञान आत्मा है।

हम सब जिस ज्ञान का आत्मभाव से अनुभव कर रहे हैं इसका एक महत्वपूर्ण लक्षण आनन्द भी है। आत्मा को परम आनन्दस्वरूप सिद्ध करने के लिए इस श्लोक में आचार्य एक तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि आत्मा परम प्रीति का पात्र होने के कारण परमानन्दस्वरूप है। हम सबसे अधिक प्रेम अपने आप से करते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे अधिक सुख आत्मा में ही है। हमें निर्विवाद रूप से स्वीकार करना होगा कि सुख और प्रीति का नित्य सम्बन्ध है। आत्मा का लक्षण आनन्द है

और मन में आत्मा का प्रतिबिम्ब प्रीति बनकर अनुभूत होता है। इसलिए सभी पुरुषों को सुख से प्रीति होती है।

आत्मा की परमप्रियता सिद्ध करने के लिए इस श्लोक में आचार्य यह तर्क देते हैं-- 'मानभूवं हि भूयासम्'-- ऐसा न हो कि मैं न होऊँ वरन् सर्वदा रहूँ--हमारी यह कामना सिद्ध करती है कि मैं अपने से सर्वाधिक प्रेम करता हूँ। यद्यपि शरीर आत्मा नहीं है फिर भी उसमें भ्रान्तिजन्य आत्मभाव के कारण उसे भी नष्ट नहीं होने देना चाहते। शरीर तो मलभाण्ड के समान हेय है किन्तु आत्मभाव के कारण ही उसमें प्रियता लगती है। वस्तुतः शुद्ध ज्ञान ही आत्मा है और उसी में परम प्रियता होने के कारण वह परम आनन्द भी है।

कभी लोगों में अपने प्रति घृणा भी देखी जाती है। वे आत्मग्लानि के कारण अपना विनाश ही करने को उद्यत हो जाते हैं। उनकी यह घृणा अपने शरीर, मन, बुद्धि के लिए होती है अथवा उनसे किये गये कर्मों के लिए होती है, ज्ञानस्वरूप आत्मा के लिए नहीं होती। इसलिए वे शरीर को नष्ट कर अपनी ग्लानि से छुटकारा चाहते हैं। शरीर और तज्जन्य ग्लानि से मुक्त होकर वे अपने शुद्ध आत्मा का विनाश नहीं करना चाहते। इसलिए यह निर्णय पक्का है कि आत्मा परम प्रेमस्वरूप और परम आनन्दस्वरूप है।

आत्मा में परम प्रेम होने के कारण उसके आनन्दस्वरूप होने का प्रमाण श्रुति भी देती है। उसे उद्धृत करते हुए आचार्य कहते हैं-

तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि।

अतस्तत्परमं तेन परमानन्दताऽऽत्मनः॥१॥

'वह प्रेम अन्यत्र भी आत्मा के लिए ही है, किन्तु आत्मा में जो प्रेम है वह अन्य के लिए नहीं है। इसलिए आत्मा का प्रेम परम प्रेम है। इस कारण आत्मा की परमानन्दता सिद्ध होती है।'

व्याख्या--हम देख चुके हैं कि सुख और प्रीति का नित्य सम्बन्ध है। जहां कहीं सुख का अनुभव होता है उसी के प्रति हमारी प्रीति भी होती है। इसलिए जिस वस्तु या व्यक्ति में सुख पाने की आशा होती है उसी से प्रेम किया जाता है। दुःख से प्रीति किसी को नहीं है। न कोई दुःख चाहता है और न कोई दुःख देने वाले वस्तु चाहता है। इस नियम से हम अपनी प्रीति को देखकर सुख का श्रोत खोज सकते हैं। वह श्रोत हमें चाहे सुख कभी न दे किन्तु उसमें सुख की कल्पना ही हमारे मन में उसके प्रति प्रीति उत्पन्न कर देती है। यदि हमारे मन में किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति प्रीति है तो यह निश्चय मान लेना चाहिए कि उसमें सुख प्राप्त करने की आशा करते हैं।

मान लो, हमें धन में प्रीति है। हम अपने मन में उस प्रीति का अनुभव करते हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि हम धन में सुख देने की सामर्थ्य समझते हैं। इसी प्रकार यदि हम मकान या फर्नीचर में प्रीति करते हैं या गाय, घोड़े आदि पशु में प्रीति रखते हैं तो वहां भी सुख की आशा करते हैं। यदि माता-पिता या पति-पत्नी या पुत्र-पौत्र में हमारी प्रीति है तो वहां भी हम सुख पाने की आशा रखते हैं। यह मनोविज्ञान का एक सरल सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त को समझना कठिन नहीं है। किन्तु इसी के साथ एक सिद्धान्त यह भी है कि जिस वस्तु को सुखदायी समझ कर प्रीति करते हैं वह प्रीति उसी वस्तु के हेतु नहीं होती वरन् अन्ततः अपने लिए होती है। हमें धन में जो प्रीति है वह केवल धन के लिए नहीं है, वरन् वह धन हमें सुख दे तभी उसमें प्रीति है। इसका अर्थ यह है कि पहले मुझे अपने में प्रीति है, तब अपने लिए अन्य वस्तुओं या व्यक्तियों में प्रीति है। हमारी प्रीति सैकड़ों वस्तुओं और सैकड़ों दिशाओं में बटी हो सकती है किन्तु वह सब अन्त में अपने लिए ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि सबसे अधिक प्रेम हमें अपने से है। यदि ऐसा है तो सबसे अधिक सुख भी अपने आप में ही होना चाहिए।

अपने आप में सबसे अधिक सुख और प्रीति शास्त्र से भी प्रमाणित होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी पत्नी मैत्रेयी को आत्मज्ञान की शिक्षा देते हुए कहते हैं--

'सहोवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति। आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति। आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्रः प्रिया भवन्ति। आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति। न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति। आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति। न वा अरे पशुनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यामनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति।'

उन्होंने कहा-अरी मैत्रेयि! यह निश्चय है कि पति के प्रयोजन के लिए पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन लिए पति प्रिय होता है; पत्नी के प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती, अपने ही प्रयोजन के लिए पत्नी प्रिय होती है; पुत्रों के प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए पुत्र प्रिय होते हैं; धन के प्रयोजन के लिए धन प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिए धन प्रिय होता है, पशुओं के लिए पशु प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए पशु प्रिय होते हैं।

याज्ञवल्क्य आगे कहते हैं कि सबके प्रयोजन के लिए सब प्रिय नहीं होते, अपने ही प्रयोजन के लिए सब प्रिय होते हैं। यह आत्मा परम प्रेमस्वरूप है। यही दर्शनीय, श्रवणीय, मननिय और ध्यान करने योग्य है।

इस पर भाष्य लिखते हुए भगवान शंकराचार्य कहते हैं--"तस्माल्लोक प्रसिध्दमेतत्-आत्मैव प्रियः नान्यत्"-अतः इस लोक में प्रसिद्ध है कि आत्मा ही प्रिय है अन्य कुछ नहीं। आत्मा परम प्रेमस्वरूप है, इसलिए यह परमानन्दस्वरूप भी है।

इसके अतिरिक्त आचार्य यह भी कहते हैं कि हमें अपने आत्मा में जो प्रेम है वह अपने लिए ही है, उसका प्रयोजन कोई अन्य वस्तु या व्यक्ति नहीं है। हमारे आत्मप्रेम या आत्मरक्षा का प्रयोजन यह नहीं है कि इसका लक्ष्य किसी अन्य व्यक्ति को सुख पहुँचाना हो। यदि कदाचित् ऐसा होता तो हम उसी को परमप्रेमास्पद मानते। जब हम देखते हैं कि अपना प्रेम सबके प्रति होते हुए भी अन्ततः वह अपने लिए ही है और अपना प्रेम भी अपने लिए ही है तो यह निश्चय हो जाता है कि आत्मा परम प्रेमस्वरूप है।

प्रेम और सुख का नित्य सम्बन्ध होने के कारण यह भी सिद्ध हो जाता है कि परम प्रेमस्वरूप आत्मा ही परम आनन्दस्वरूप है।

इस प्रकार हम अपनी जिस चेतना का सहज रूप में अनुभव कर रहे हैं यही हमारी आत्मा है और सत्-चित् तथा आनन्द इसके लक्षण हैं।

आत्मा और ब्रह्म की एकता

पिछले सात श्लोकों में आत्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप सिद्ध करने के बाद अब आत्मा और ब्रह्म की एकता प्रतिपादन करते हैं-

इत्थं सच्चित्परानन्द आत्मा युक्त्या तथाविधम् ।

परं ब्रह्म तयोश्चैक्यं श्रुत्यंतेषूपदिश्यते ॥10॥

'इस प्रकार युक्ति द्वारा आत्मा सत्-चित् और परानन्दरूप (सिद्ध हुआ)।' उसी विधि परब्रह्म भी है। इसलिए उन दोनों की एकता का उपदेश उपनिषदों में किया गया है। '

व्याख्या--पिछले सात श्लोकों में आचार्य ने युक्ति द्वारा सिद्ध कर दिया कि हम अपनी जिस चेतना का अनुभव करते हैं यही हमारा स्वरूप है। हमारा यह आत्मस्वरूप सद्, चित् और परमानन्द स्वरूप है। आत्मा नित्य, अविनाशी और अविकारी होने के कारण

बाध रहित है। ये उसके सत् होने के लक्षण हैं। यह ज्ञान स्वरूप, बोधस्वरूप और अपने आप से अनुभव में आनेवाला है, इसलिए यह चित्स्वरूप है। हमें अपने इस स्वरूप से सबसे अधिक प्रेम है, इसलिए यह आनन्द स्वरूप है। आत्मा में हमें ये तीन लक्षण मिलते हैं। इन तीन लक्षणों से युक्त अपने स्वरूप को पहचान लेना ही आत्माज्ञान है। (देखिये भगवान शंकराचार्य के आत्मबोध आदि प्रकरण ग्रन्थ) श्रुतियों में यही तीन लक्षण ब्रह्म के बताये गये हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की श्रुति इस प्रकार है--"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म.....रसो वै सः"--ब्रह्म सत्य, ज्ञान स्वरूप और अनन्त है, वही रस (आनन्द) है। अन्य उपनिषदों में भी ब्रह्म के यही लक्षण बताये गये हैं।

इस प्रकार जब आत्मा के वही लक्षण सिद्ध होते हैं जो ब्रह्म के हैं तो आत्मा और ब्रह्म एक ही वस्तु होना चाहिये। आचार्य इस सत्य का प्रतिपादन करते हैं। अतः हमें यही समझना चाहिये कि हम जिस अशरीरी आत्मा का अनुभव सत्, चित् और आनन्द स्वरूप अनुभव करते हैं वही सर्वात्मा और अनन्त होने के कारण ब्रह्म है। यहां यह शंका न करनी चाहिये कि ब्रह्म तो ब्रह्तर है, परमात्मा है, भला वह में कैसे हो सकता हूँ? जैसे घटाकाश और महाकाश में भेद नहीं है वैसे ही आत्मा और ब्रह्म में भेद नहीं है।

आचार्य अपने मत की पुष्टि करने के लिए उसे उपनिषदों में भी उपदिष्ट कहते हैं। समस्त उपनिषदों में आत्मा और ब्रह्म का एकता का प्रतिपादन किया गया है। 'तत्त्वमसि' (छान्दो० 6-8-7) 'अहं ब्रम्हास्मि' (बृ० 1-4-10) 'अयमात्मा ब्रह्म' (वृ० 2-5-19) 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' (मुण्ड० 3-2-9) 'सर्वं ह्येतद् ब्रह्म अयमात्मा ब्रह्म' (मान्डू० 1-2) इत्यादि ऐसे अगणित उद्धरण दिये जा सकते हैं। ये श्रुति वचन ही एक मात्र ऐसे साधन हैं जिनसे ब्रह्म ज्ञान होता है और प्राप्त हुए ज्ञान में दृढता आती है। कैवल्य उपनिषद् का एक मन्त्र इस प्रकार है-

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सुक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं तत्त्वमेव त्वमेव तत्॥

'जो पर ब्रह्म है, सब का आत्मा है, विश्व का आधार है, सूक्ष्म से अधिक सूक्ष्म है और शाश्वत है, वही तुम हो और तुम ही वह है'

इस मन्त्र में कहा गया है कि जिस ब्रह्म को सर्वात्मा, सर्वाधार और सर्वव्यापी बताया जाता है वह तूम से कहीं दूर नहीं है। वह सर्वात्मा है तो तुम्हारा भी आत्मा है। तुम अपने आप को जो नित्य चेतन तत्त्व अनुभव करते हो वही ब्रह्म है। तुम अपने को उससे अलग समझे हुए हो, यह तुम्हारा भ्रम है। यदि कोई कहे कि 'तत्त्वमसि' का अर्थ 'तस्य त्वम् असि'--तुम उसके हो जो तुमसे भिन्न है, तुम वह नहीं हो बल्कि उसके

अंश हो, तो उससे सावधान करने के लिए ही 'तत् और त्वम्' को उलट पलट कर आत्मा और ब्रह्म की एकता दृढ़ कर दी गयी है। ब्रह्म होने से जो ब्रह्म है वही अपने में स्वयं रूप से अनुभूत होने के कारण आत्मा है और सम्पूर्ण जगत् का आधार होने से परमात्मा है।

वस्तुतः हर व्यक्ति अपने आप को जानता है क्योंकि वह चेतन है, ज्ञान स्वरूप है। किन्तु उसे यह ज्ञात नहीं होता कि वह तो अपने शुद्ध रूप में परमात्मा है। यह ज्ञान श्रुति, युक्ति और अनुभव प्रमाण से प्राप्त होता है। अगले श्लोक में बताते हैं कि अपने आत्मा कि यथार्थ ज्ञान में बाधा क्या है।

अभाने न परं प्रेम भाने न विषये स्पृहा।

अतो भानेऽप्यभाताऽसौ परमानन्दतात्मनः॥११॥

'यदि आत्मा की परमानन्दता का भान न हो तो आत्मा के लिए परम प्रेम नहीं हो सकता और यदि उसका भान हो तो विषयों की इच्छा नहीं होगी। इसलिए आत्मा की परमानन्दता का भान होते हुए भी (उसका स्पष्ट) भान नहीं होता है।'

व्याख्या--युक्ति प्रमाण और शास्त्र प्रमाण से यह तो सिद्ध हो गया कि हम अपने सत्स्वरूप में परब्रह्म परमात्मा हैं, इसलिए नित्य मुक्त और आनन्द स्वरूप हैं, किन्तु अब देखना चाहिए कि हम अपने अनुभव में क्या पाते हैं। क्या हम अपने अन्तर्गत में परमानन्द का रस ले रहे हैं? क्या हमें कोई अभाव और दुःख पीड़ा नहीं दे रहा है? यदि हमें अपने आप से परम प्रेम है, यह स्वाभाविक और सत्य है, तो हमें स्वयं आनन्द स्वरूप होना ही चाहिए अन्यथा प्रेम और सुख के नित्य सम्बन्ध का नियम विच्छिन्न होता है। किन्तु अनुभव से यह सिद्ध नहीं होता। यदि हम आत्मानन्द का अनुभव करते तो विषयों की कामना होने का प्रश्न ही नहीं था। हमें जो क्षुद्र विषय सुखों की कामना होते हैं, उससे सिद्ध होता है कि हमें आत्म के आनन्द का स्पष्ट ज्ञान नहीं है।

आत्मा के आनन्द-सिन्धु में वास करने वाला कभी विषय सुखों की ओस चाटने की इच्छा नहीं कर सकता। विषय सुख क्षणिक हैं और उनके साथ दुःख भी मिला रहता है। इन्हें तो कुएं का खारा जल समझना चाहिए। उसे प्राप्त करने में कष्ट और पीने में बेस्वाद लगता है। ऐसे सुखकी कामना तो वही करेगा जिसे अमृत का मधुर सागर उमड़ता और लहराता हुआ नहीं मिला है। हमारी यह विषयासक्ति क्यों है?

इस प्रश्न के समाधान में आचार्य कहते हैं कि वस्तुतः हमें अपने आत्मा का भान होते हुए उसकी परमानन्दता का अनुभव नहीं होता। हम अपनी सत्ता का, अपनी चेतना का

अनुभव तो करते हैं किन्तु उसकी अनन्तता, पूर्णता और आनन्दता का अनुभव नहीं करते।

ऐसा क्यों है?

अध्येतृवर्गमध्यस्थ पुत्राध्ययन शब्दवत्।

भानेप्यभानं भानप्य प्रतिबंधनयुज्यते॥12॥

'अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के वर्ग में विद्यमान पुत्र के अध्ययन के शब्द के समान भान होते हुए भी अभान होता है। भान का प्रतिबंध होने पर अभान होना उचित ही है।'

व्याख्या--ज्ञान सदा स्पष्ट रूप में ही होता है ऐसा नियम नहीं है। अस्पष्ट ज्ञान भी हो सकता है। इस प्रकार के अनेक दृष्टान्त हो सकते हैं जहां वस्तु का ज्ञान स्पष्ट रूप से नहीं होता। मेघाच्छादित सूर्य का कुछ प्रकाश रहता है। उसी से ज्ञात होता है कि यह दिन का समय है, रात्रि नहीं है। किन्तु यह ज्ञात नहीं होता कि सूर्य इस समय आकाश में कहाँ स्थित है। मेघ हटने पर उसे स्पष्ट देखा जा सकता है।

यहाँ आचार्य विद्यार्थी वर्ग में बैठे अपने पुत्र की अस्पष्ट ध्वनि का दृष्टान्त देते हैं। मान लें, किसी विद्यालय में कुछ छात्र एक साथ वेद पाठ कर रहे हैं। उनकी सबकी मिली-जुली ध्वनियाँ उत्पन्न हो रही हैं। उसी समय एक विद्यार्थी का पिता अपने पुत्र से मिलने आता है। वह द्वार पर खड़ा विद्यार्थियों की ध्वनि ध्यान से सुनकर यह निश्चय करता है कि इस वर्ग में मेरे पुत्र के भी ध्वनि हो रही है। वह अपने पुत्र के शब्द सुनते हुए भी स्पष्ट रूप से नहीं सुन पाता, क्योंकि अन्य बालकों की ध्वनियाँ उसे प्रतिबंधित कर देती हैं।

इसी प्रकार अपने आत्मा का आनन्द अपने आपमें परम प्रेम होने के कारण भासित तो होता है किन्तु वह स्पष्ट अनुभव में नहीं आता। इससे ज्ञात होता है कि उसके साथ कोई प्रतिबंध अवश्य है। प्रतिबंध रहने तक हमें अपने आनन्द स्पष्ट अनुभव नहीं होता और हम सांसारिक सुख पाकर अपने को सुखी बनाना चाहते हैं।